पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

लोकमंगल या विश्वकल्याण सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का सार है। जैनधर्म में तीर्थङ्कर का, बौद्धधर्म में बोधसत्त्व का, हिन्दूधर्म में अवतार का चरम लक्ष्य लोककल्याण की साधना ही है। लोकमंगल के लिए ही वे धर्म का प्रवर्तन करते हैं। यह लोककल्याण की प्रवृत्ति ही परोपकार, सत्कर्म, कुशल कर्म, पुण्यकर्म, रक्षा आदि नामों से अभिहित की जाती है। करुणा, सेवा, रक्षा, परपीड़ा की निवृत्ति आदि इसके प्रमुख अंग हैं। दूसरों के दुःख एवं पीड़ा को दूर कर उन्हें सुख और शान्ति प्रदान करना इनका प्रमुख उद्देश्य है। वैयक्तिक-विमुक्ति और आत्म-कल्याण की अपेक्षा भी सामाजिक दृष्टि से यह एक उच्च आदर्श है। इसीलिए बोधिसत्त्व कहते हैं कि दूसरों के दुःख दूर करने में जो सुख मिलता है वह क्या कम है, जिसे छोड़कर वैयक्तिक निर्वाण का प्रयत्न किया जाये। इस प्रकार लोककल्याण के चरम आदर्श की यह उपलब्धि वैयक्तिक-मुक्ति की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानी गई। किन्तु कालान्तर में जब वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा प्रमुख हुई तो लोकमंगल या परोपकार के कार्यों को आत्मसाधना से हेय माना जाने लगा। उन्हें रागात्मक, हिंसा-युक्त और बन्धन का हेतु कहा जाने लगा और इस प्रकार वे अनुपादेय या हेय की कोटि में डाल दिये गये।

समस्या का इतिहास

जैन परम्परा में सर्वप्रथम उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके जो विरुद्ध धर्मी थे, उन्हें सजातीय बना दिया। परिणाम स्वरूप पाप के साथ पुण्य की उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लगा। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने और विशेषरूप से उनके टीकाकारों ने पुण्य को बन्धनरूप मानकर उसे हेय की कोटि में डाल दिया। इस प्रकार लोकमंगल रूप पुण्यप्रवृत्तियों की उपादेयता एक विवादास्पद विषय बन गई।

वैसे तो इस विवाद के संकेत सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में भी मिलते हैं, जहां इस सम्बन्ध में मुनि को तटस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत हैं। वर्तमान युग में दिगम्बर परम्परा में इस विवाद को अधिक बल दिया गया। पूज्य कानजी स्वामी और उनके समर्थक विद्वत् मण्डल की निश्चयनय प्रधान व्याख्याओं के द्वारा। श्वेताम्बर परम्परा में भी आधुनिक युग में यह विवाद मुखर हुआ तेरापंथ परम्परा और अन्य श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच। यद्यपि श्रमण जीवन की साधना में हिंसा-युक्त लोकमंगल या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परोपकार के कार्यों के प्रति विधि-निषेध से ऊपर उठकर मध्यस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत सूत्रकृताङ्ग जैसे प्राचीन जैनागमों में मिलते हैं। फिर भी सामान्यतया दिगम्बर-श्वेताम्बर मुनिवर्ग प्रेरणा के रूप में और गृहस्थवर्ग यथार्थ में लोक-कल्याणों, समाज-सेवा और परोपकार के कार्यों में रुचि लेता रहा है। चाहे सैद्धान्तिक मान्यता कुछ भी हो, सम्पूर्ण जैन समाज परोपकार और सेवा की इन प्रवृत्तियों में रुचि लेता रहा है। यद्यपि बीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में इस प्रश्न को लेकर पक्ष-विपक्ष में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

सेवा, दान और परोपकार जैसी पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता के सम्बन्ध में प्रकीर्ण संकेत तो प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं, इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा कुछ लेख भी लिखे गये हैं। मैंने भी स्वहित और लोकहित का प्रश्न, 'सकारात्मक अहिंसा' की भूमिका जैसे कुछ लेख लिखे। फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से बिना किसी मत या सम्प्रदाय पर टीका टिप्पणी किये मात्र आगमिक और कर्म सिद्धान्त के श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के आधार पर उनका गहन अनुशीलन करके अपनी कृति में पुण्य की उपादेयता के सम्बन्ध में पूज्य पं० श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे न केवल प्रामाणिक हैं, अपितु हमें इस प्रश्न पर पुनर्चिन्तन को बाध्य करते हैं। वस्तुतः समस्या क्या है और उसका दार्शनिक समाधान क्या है, इस प्रश्न पर अग्रिम पृष्ठों में कुछ गम्भीर चर्चा करेंगे।

जैन तत्त्व-मीमांसा में पाप और पुण्य

भारतीय धर्म-दर्शनों में पुण्य और पाप की अवधारणा अति प्राचीन काल से पाई जाती है। इन्हें धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, कल्याण-पाप आदि विविध नामों से जाना जाता है। जैन धर्म-दर्शन में भी तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत नव तत्त्वों की अवधारणा में पुण्य और पाप का स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में उल्लेख हुआ है। हमें न केवल श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी नवतत्त्वों की यह अवधारणा प्राप्त होती है। इन नवतत्त्वों को नव पदार्थ या नव अर्थ भी कहा है, किन्तु नाम के इस अन्तर से इनकी मूलभूत अवधारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। श्वेताम्बर परम्परा में नव तत्त्वों की इस अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख उत्तराध्ययन एवं समवायांग में पाया जाता है। पंचास्तिकायसार नामक ग्रन्थ में इन नव तत्त्वों का नव पदार्थ के रूप में उल्लेख हुआ है।

नवतत्त्वों की इस अवधारणा के अन्तर्गत निम्न नौ तत्त्व माने गए हैं— १. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. बन्ध, ८. निर्जरा और ९. मोक्ष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ हम देखते हैं कि नवतत्त्वों की इस सूची में पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व माना गया, किन्तु कालान्तर में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (लगभग ईसा की तीसरी सदी) में इन नवतत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया और पुण्य तथा पाप को स्वतन्त्र न मानकर उन्हें आस्रव का भेद माना।

किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पुण्य और पाप का न केवल आस्रव होता है अपितु उनका बन्ध और विपाक भी होता है। अत: पुण्य और पाप को मात्र आस्रव नहीं माना जा सकता। वस्तुत: तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति की दृष्टि संक्षिप्तीकरण की रही है, क्योंकि वह ग्रन्थ सूत्र रूप में है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल तत्त्वों के सम्बन्ध में अपितु अन्य सन्दर्भों में भी अपनी सूचियों का संक्षिप्तीकरण किया है, जैसे उत्तराध्ययन और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में वर्णित चतुर्विध मोक्ष-मार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तप को चारित्र में ही अर्न्तभूत मान लेना, सप्तनय की अवधारणा में समभिरूढनय एवं एवंभूतनय को शब्दनय के अन्तर्गत मानकर मूल में पाँच नयों की अवधारणा को प्रस्तुत करना आदि। इसी क्रम में उन्होंने पुण्य और पाप को भी आस्रव के अन्तर्गत मानकर नव-तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की है।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन के इतिहास में कालक्रम में विभिन्न तात्त्विक अवधारणाओं की सूचियों में कहीं संकोच की तो कहीं विस्तार की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इसकी चर्चा पं० दलसुख भाई मालवणिया ने अपनी लघु पुस्तिका 'जैनदर्शन का आदिकाल' में की है। जहाँ तक तत्त्वों की अवधारणा का प्रश्न है इस सन्दर्भ में हमें ऐसा लगता है कि तत्त्वों की संख्या सम्बन्धी सूची संकुचित एवं विस्तारित होती रही है। ज्ञातव्य है कि जैन धर्म दर्शन में तत्त्वों को श्रद्धा का विषय माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र (१/३) में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तत्त्व श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है। किन्तु जिन तत्त्वों पर श्रद्धा रखनी चाहिए अर्थात् उनको अस्ति रूप मानना चाहिए नास्ति रूप नहीं, इसकी चर्चा करते हुए सर्वप्रथम सूत्रकृताङ्ग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पांचवें अध्ययन में बत्तीस तत्त्वों की एक विस्तृत सूची दी गई है, जो निम्न है—(१) लोक (२) अलोक (३) जीव (४) अजीव (५) धर्म (६) अधर्म (७) बन्ध (८) मोक्ष (९) पुण्य (१०) पाप (११) आस्रव (१२) संवर (१३) वेदना (विपाक) (१४) निर्जरा (१५) क्रिया (१६) अक्रिया (१७) क्रोध (१८) मान (१९) माया (२०) लोभ (२१) प्रेम (राग) (२२) द्वेष (२३) चतुरंगसंसार (२४) सिद्धस्थान (२५) देव (२६) देवी (२७) सिद्धि (२८) असिद्धि (२९) साधु (३०) कल्याण और (३२) पाप (अकल्याण)। सूत्रकृताङ्ग (२/५/७६५-७८)

यहाँ हम देखते हैं कि सोलह युग्मों में बत्तीस तत्त्वों को गिनाया गया है। इन युग्मों में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य और कल्याण-अकल्याण (पाप) ये तीन युग्म ऐसे हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनमें अर्थ की निकटता है, फिर भी जहाँ धर्म और अधर्म क्रमशः सम्यक् एवं मिथ्या साधना मार्ग के सूचक हैं, वहां पुण्य और पाप क्रमशः सत्कर्म और असत्कर्म के अथवा नैतिक कर्म और अनैतिक कर्म के सूचक हैं। जबकि कल्याण एवं पाप (अकल्याण) का सम्बन्ध उपादेय और हेय से है। फिर भी इनमें किसी सीमा तक अर्थ की जो निकटता है, उसको ध्यान में रखते हुए तत्त्व सम्बन्धी अन्य सूचियों में इन तीन युग्मों में से दो को छाड़कर मात्र पुण्य और पाप को ही स्थान दिया गया। सूत्रकृताङ्ग के ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध (२/७/१५) में यह सूची रूप में संकुचित मिलती है। उसमें निम्न १२ तत्त्वों को ही स्वकार किया गया है— (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) वेदना (८) निर्जरा (९) क्रिया (१०) अधिकरण (११) बन्ध और (१२) मोक्ष।

ऐसी ही एक अन्य संकुचित सूची आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन (उद्देशक १) में मिलती है। इसमें लोक के अस्तित्व-अनस्तित्व सादि-अनादि, ध्रुव (नित्य)-अनित्य, सान्त-अनन्त आदि की चर्चा के साथ-साथ सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि और नरक-अनरक ऐसे पांच युग्मों में दस तत्त्वों का उल्लेख है।

इसी क्रम में उत्तराध्ययनसूत्र में आते-आते तत्त्वों की इस सूची में पुनः संकोच हुआ और सूत्रकृताङ्ग की १२ तत्त्वों की इस सूची में से वेदना, क्रिया और अधिकरण इन तीन को निकाल देने से केवल नव तत्त्व रह गये। फिर भी यहां तक पुण्य और पाप की स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में स्वीकृति बनी रही। सर्वप्रथम उमास्वाति ने ही इन नव तत्त्वों में से पुण्य और पाप को भी अलग करके अपनी तत्त्व सूची में मात्र सात तत्त्वों को स्वीकृति दी तथा पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना।

जब पुण्य और पाप आस्रव बन गये तो उनकी उपयोगिता पर ही प्रश्नचिह्न लगना प्रारम्भ हो गया। क्योंकि जो आस्रव अर्थात् बन्धन का हेतु हो, वह मुक्ति मार्ग के साधक के लिए उपादेय या आचरणीय नहीं माना जा सकता। इसप्रकार पाप को अनुपादेय या हेय मानने के साथ-साथ पुण्य को भी अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई। जिसके परिणाम स्वरूप लोकमंगल और परोपकार के कार्यों की उपेक्षा की जाने लगी और उन्हें आत्मसाधना की अपेक्षा से हेय या अनुपादेय माना जाने लगा। पुण्य और पाप जब तक स्वतन्त्र तत्त्व थे तब तक वे विरुद्धधर्मी थे, अतः पाप को हेय और पुण्य को उपादेय माना जाता था। क्योंकि वह हेय पाप का विरुद्धधर्मी था, अतः उपादेय था। किन्तु जब वे दोनों आस्रव के भेद मान लिये गये तो वे परस्पर विरुद्धधर्मी या विजातीय न रहकर सजातीय या सहवर्गी बन गये। फलतः पाप के साथ-साथ पुण्य भी हेय की कोटि में चला गया और उसकी उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगाये गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य की उपादेयता पर कैसे लगा प्रश्नचिह्न

वस्तुत: जब आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव का अंग मान लिया तो स्वाभाविक रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि जिसका आस्रव होता है उसका बन्ध भी होता है और जिसका बन्ध होता है उसका विपाक भी होता है। इसप्रकार बन्ध और विपाक की प्रक्रिया से भव-श्रमण की परम्परा चलती रहती है। पुन: जो भी भव-भ्रमण का हेतु होगा, वह उपादेय नहीं हो सकता।

इस प्रकार पुण्य को आस्रव रूप मानने के परिणामस्वरूप उसको हेय मानने की अवधारणा विकसित हुई। इस अवधारणा को आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से अधिक बल मिला कि पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के हेतु होने से बेड़ी के समान ही हैं। फिर वह बेड़ी चाहे सोने की हो या फिर लोहे की हो, बन्धन का कार्य तो करती ही है। इस प्रकार जब पाप के साथ-साथ पुण्य को भी समतुला पर रखकर हेय मान लिया तो उसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी मुमुक्षु साधकों की दृष्टि में पाप के साथ-साथ पुण्य भी अनुपादेय बन गया और परिणाम स्वरूप वे परोपकार और लोकमंगल के कार्यों को भी बन्धन का निमित्त मानकर के उनकी उपेक्षा करने लगे। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो पुण्य और पाप को क्रमश: सोने और लोहे की बेड़ी ही कहा था। किन्तु उनके परवर्ती टीकाकारों ने तो पुण्य-पाप दोनों को बन्धनका रूप कहकर उनकी पूर्णत: उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। पं० जयचंद जी छाबड़ा अपनी समयसार की भाषा वचनिका में लिखते हैं—

पुण्य पाप दोय करम, बन्ध रूप दुई मानी।
शुद्ध आतम जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानी।।

इस प्रकार पाप के साथ-साथ पुण्य कर्म भी अनुपादेय मान लिये गये। चाहे पुण्य को आस्रव या बन्ध रूप मान भी लिया जाये फिर भी उसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु सही समझ के लिये कर्मों के बन्धक और अबन्धक होने की स्थिति की तथा उनके शुभत्व-अशुभत्व एवं शुद्धत्व की समीक्षा अपेक्षित है।

तीन प्रकार के कर्म

जैनदर्शन में 'कर्मणा बध्यते जन्तु:' की उक्ति स्वीकार्य रही है, लेकिन इसमें कर्म अथवा क्रियाएं समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं— एक को कर्म कहा गया हैं, दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएं अर्थात् राग-द्वेष एवं कषाय युक्त क्रियाएँ कर्म की कोटि में आती हैं और ईर्यापथिक कियाएँ अकर्म की कोटि में। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही उचित-अनुचित की कोटि में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें अनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एकसमान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं— (१) ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) (२) पुण्य-कर्म और (३) पाप-कर्म।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ में जो पर पीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनम्)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो, वह पाप है। वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएं भी पाप कर्म हैं।

पाप कर्मों का वर्गीकरण

जैन दृष्टिकोण-जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं— १. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (असत्य भाषण), ३. अदत्तादान (चौर्यकर्म), ४. मैथुन (काम-विकार), ५. परिग्रह (ममत्व, मूर्च्छा, तृष्णा या संचयवृत्ति), ६. क्रोध (गुस्सा), ७. मान (अहंकार), ८. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), ९. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), १०. राग (आसक्ति), ११. द्वेष (घृणा तिरस्कार ईर्ष्या आदि), १२. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), १३. अभ्याख्यान (दोषारोपण), १४. पिशुनता (चुगली), १५. परपरिवाद (परनिन्दा), १६. रति-अरति (हर्ष और शोक), १७. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), १८. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।[2]

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं चैतसिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं- शुभास्रव पुण्य है।[3] दूसरे जैनाचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। निर्वाण की उपलब्धि में पुण्य के सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[५] इस प्रकार आचार्य अभयदेव की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। वस्ततः पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो उसे भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[६] जैन कवि बनारसीदास जी समयसारनाटक में कहते हैं कि जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता हो और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता हो, वही पुण्य है।[७]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म के शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक विकास हेतु मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएं एवं कियाएं भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियां भावपुण्य हैं और शुभ-पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[८] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं।[९]

१. अन्नपुण्य— भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।

२. पानपुण्य— तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।

३. लयनपुण्य— निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।

४. शयनपुण्य— शय्या, बिछौना आदि देना।

५. वस्त्रपुण्य— वस्त्र का दान देना।

६. मनपुण्य— मन से शुभ विचार करना अर्थात् जगत् के मंगल की शुभकामना करना।

७. वचनपुण्य— प्रशस्त एवं सन्तोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।

८. कायपुण्य— रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. नमस्कार पुण्य— गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ-और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं— १. कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रवाह और २. कर्त्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि 'जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह कर्त्तव्यभाव से इन सब लोगों मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।'[१०] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है कि नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[११] बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रक सम्वाद में भी मिलता है।[१२] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमार जी लिखते हैं कि शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियां ही हैं। एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डाक्टर तो पाप-कर्म के बन्धन का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डाक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[१३] पण्डित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्यबन्ध और पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[१४] जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही पुण्य कर्मों का स्रष्टा है।[१५] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता है।[१६] सूत्रकृताङ्ग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[१७] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राणी का हनन नहीं हो।[१८]

कौन सा कर्म बन्धनकारक है और कौन सा कर्म बन्धनकारक नहीं है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्य रूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा, इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छ रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धनकारक नहीं होता।[१९]

अत: बन्धन के भय से परोपकार की प्रवृत्तियों एवं लोकहित के अपने दायित्वों को छोड़ बैठना उचित नहीं हैं।

क्या पुण्यकर्म (शुभकर्म) आस्रव ही है?

वस्तुत: पुण्य को अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति का मूल कारण उसे आस्रव रूप मानना है। यह ठीक है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में शुभ का आस्रव कहा है, किन्तु प्रथम तो ध्यान रखना आवश्यक है कि शुभ का आस्रव हेय नहीं है। उमास्वाति ने भी कहीं भी शुभ को हेय नहीं कहा है। जो भी आस्रव है, वह सभी हेय या अनुपादेय है ऐसा अनेकान्तवादी जैन दर्शन का सिद्धान्त नहीं है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो आस्रव के हेतु हैं, वे परिस्रव अर्थात् संवर और निर्जरा के हेतु भी बन जाते हैं और जो परिस्रव अर्थात संवर और निर्जरा के हेतु हैं वे आस्रव के हेतु भी बन सकते है। अत: पुण्य-कर्म आस्रव रूप ही हैं— ऐसी जैन दर्शन की एकान्त अवधारणा नहीं है। अपनी कृति में पं० प्रवर कन्हैयालाल जी लोढ़ा कसायपाहुड की जयधवल टीका के आधार पर लिखते हैं कि दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद् प्रवृत्तियो को शुभयोग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभयोग को संवर भी कहा गया है। जयधवला में कहा गया है कि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मो का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नहीं सकता। वस्तुत: उनकी यह अवधारणा युक्तिसंगत है कि शुभभाव कषाय के उदय से नहीं, कषाय की मंदता से होते हैं अत: वे संवर रूप भी हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है कि शुभ परिणामों के उदय से अशुभ परिणामों का संवर होता है और अशुभ परिणामों का संवर ही वास्तविक अर्थ में संवर है। पुण्य में प्रवृत्ति होने से पाप से निवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। अत: पुण्य को आस्रव रूप और संवर रूप दोनों ही मानना होगा। पुण्य चाहे शुभ का आस्रव हो, किन्तु उसी समय वह अशुभ का तो संवर है ही।

पुण्य कर्म और उनका बन्ध एवं विपाक

यह सत्य है कि पुण्य कर्म भी है। क्योंकि उसका आस्रव, बन्ध और विपाक माना गया है, किन्तु सभी प्रकार के आस्रव और बन्ध समान नहीं होते हैं। वस्तुत:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही आस्रव, बन्ध एवं विपाक हेय कहा जाता है जिसके कारण आत्मा का स्वस्वभाव विकारी बनता है अर्थात् विभाव परिणति होती है। जैन परम्परा में इन्हें घाती कर्म कहा गया है। पुण्य द्वारा जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है वे सभी अघाती कर्म की हैं अर्थात् उनसे आत्मा का स्वभाव विकारी नहीं होता है। मोक्ष-प्राप्ति के समय में आयुष्य कर्म का क्षय होने पर अर्थात् आयुष्य पूर्ण होने पर पुण्य कर्म भी स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। पुण्य कर्मों को क्षय करने पर किसी प्रयत्न या पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं होती है।

पुण्य कर्म तभी बन्धक बनते हैं जब वे फलाकांक्षा और रागात्मकता से युक्त होते हैं। अन्यथा तो वे ईर्यापथिक कर्म की तरह प्रथम समय में बंधकर दूसरे ही समय में निर्जरित हो जाते हैं, उनका स्थिति बन्ध नहीं होता है, क्योंकि स्थिति बन्ध कषाय के निमित्त से होता है और कषाय चाहे किसी भी रूप में हो वह पुण्य रूप नहीं माना जा सकता है।

पुण्य प्रकृति का बन्ध तो मन, वचन, काया के शुभ योग ही करते हैं। कषाय के अभाव में वीतराग के पुण्य कर्म होते हुए भी मात्र ईर्यापथिक आस्रव एवं बन्ध होता है। जैन कर्म सिद्धान्त का नियम है कि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय के उदय न होने पर जीवों के प्रति करुणा, सेवा एवं विनय रूप पुण्य प्रवृत्तियां रहने पर भी उनसे मात्र द्विसमय की सत्ता वाले ईर्यापथिक सातावेदनीय (पुण्य प्रकृति) का बन्ध होता है। जिसे जैन परम्परा में ईर्यापथिक कर्म या अकर्म कहा गया है, ऐसा कर्म वस्तुतः कर्म ही नहीं है। वस्तुतः जो भवभ्रमण का कारण हो या मुक्ति में बाधक हो या जिससे आत्म-स्वभाव विकार दशा या विभाव दशा को प्राप्त होता हो वही कर्म है, शेष तो अकर्म ही है। सूत्रकृतांग में अप्रमाद की स्थिति में सम्पन्न क्रिया को अकर्म कहा गया है। इसलिए वह सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य कर्म न तो हेय है और न उपेक्षा के योग्य है, अपितु ऐसा कर्म तो कर्तव्य भाव से करणीय ही माना गया है। वस्तुतः जो लोग पुण्य को बन्धन रूप मानकर उसकी उपेक्षा का निर्देश करते हैं, वे पुण्य के वास्तविक स्वरूप से परिचित ही नहीं हैं। उन्होंने फलाकांक्षा युक्त सकाम कर्म करने को ही पुण्य कर्म समझ लिया है। जो वास्तविक अर्थ में पुण्य कर्म न होकर पाप ही है, क्योंकि 'राग' पाप है।

पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक साधक प्रज्ञापुरुषा पं० कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अति परिश्रम करके अपनी कृति में सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुण्य हेय नहीं है, अपितु उपादेय है।

यदि पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक मानकर हेय मानेंगे तो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को भी मुक्ति में बाधक मानना होगा, किन्तु कोई भी जैन विचारक तीर्थंकर नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोत्र कर्म के बन्ध को मुक्ति में बाधक, अनुपादेय या हेय नहीं मानता है। क्योंकि तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म के बन्ध के पश्चात् नियमत: तीसरे भव में अवश्य मुक्ति होती है। पुन: तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का, जब तक उनके आयुष्य कर्म की स्थिति होती है तब तक ही अस्तित्व रहता है। अत: वह मुक्ति में बाधक नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर नाम कर्म से युक्त जीव तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र के उदय की अवस्था में नियम से ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

वस्तुत: व्यक्ति में जब तक योग अर्थात मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं तब तक कर्मास्रव अपरिहार्य है। फिर भी जैनाचार्यों ने इन योगों अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की जो अशुभ या अप्रशस्त प्रवृत्तियां हैं, उन्हें रोका जाये, प्रशस्त प्रवृत्तियों के रोकने का कहीं भी कोई निर्देश नहीं है। तीर्थंकर अथवा केवली भी योग-निरोध उसी समय करता है जब आयुष्य कर्म मात्र पांच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के समतुल्य रह जाता है, अत: पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक या संसार परिभ्रमण का कारण नहीं माना जा सकता है। वस्तुत: संसार परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व हैं क्योंकि राग-द्वेष या कषाय के अभाव में मात्र योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण जो कर्मास्रव होता है उससे ईर्यापथिक बन्ध होता है, साम्परायिक बन्ध नहीं होता। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्ध के चार प्रकारों में योग के निमित्त मात्र प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध होता है तथा राग-द्वेष एवं कषाय का अभाव होने के कारण उनका स्थिति बन्ध नहीं हो पाता अत: ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बन्ध में स्थिति का अभाव होता है और स्थिति के अभाव में वे कर्म दूसरे समय के पश्चात् ही निर्जरित हो जाते हैं, अत: पुण्यास्रव या पुण्य कर्म संसार परिभ्रमण का कारण नहीं है। सत्य तो यह है कि ईर्यापथिक आस्रव वस्तुत: बन्ध नहीं करता है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि पुण्य कर्म करने में प्रशस्त राग होता है और प्रशस्त राग भी संसार परिभ्रमण का कारण होता है। वस्तुत: यहां हम दो बातों को आपस में मिला देते हैं। कर्म की प्रशस्तता और कर्म की रागात्मकता ये दो अलग-अलग तथ्य हैं। जो प्रशस्त कर्म है वह रागात्मक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। बन्धन में डालने वाला तत्त्व राग-द्वेष या कषाय है, जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुपस्थिति में बन्धन नहीं होता है। वस्तुत: प्रशस्तकर्म का सम्पादन बन्धन का कारण नहीं है। सभी सद्प्रवृत्तियां या पुण्य कर्म रागात्मकता या आसक्ति से उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रज्ञावान आत्माओं के कर्म कर्तव्य भाव से होते हैं और मात्र कर्तव्य बुद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से किया गया विनय या सेवा रूप कार्य बन्धन का नहीं अपितु निर्जरा का ही हेतु होता है। इस प्रकार कर्म फल की आकांक्षा, ममत्व बुद्धि या कषाय ही उसके बन्धन के कारण हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति में ही कर्म का स्थितिबन्ध होता है और स्थिति को लेकर जो कर्म बन्धते हैं, वे ही संसार परिभ्रमण के कारण और मुक्ति में बाधक होते हैं, न कि कर्तव्य बुद्धि से किये गये सत्कर्म या पुण्य कर्म।

क्या पुण्य धर्म नहीं है

पुनः यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि जो आस्रव का हेतु हो या कर्म रूप हो वह धर्म नहीं हो सकता। पुण्य आस्रव है वह धर्म नहीं है अथवा यह कि पुण्य कर्म है अतः वह धर्म नहीं हो सकता। वस्तुतः आस्रव या कर्म धर्म है या धर्म नहीं है— यह प्रश्न इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि धर्म से हमारा क्या तात्पर्य है? सामान्यतया धर्म शब्द वस्तु स्वभाव, कर्त्तव्य भाव और साधना पद्धति इन तीन अर्थों में प्रचलित है। यदि हम धर्म का अर्थ स्वभाव लेते हैं तो हमें यह विचार करना होगा कि पुण्यास्रव या पुण्य-बन्ध या पुण्य-विपाक आत्मा के विभाव रूप हैं या स्वभाव रूप हैं। इतना निश्चित है कि पुण्य का आस्रव, पुण्य का बन्ध और पुण्य का उदय या विपाक विभाव के हेतु नहीं हैं। वे विभाव के हेतु तभी बनते हैं जब उनके साथ राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं। राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशुद्ध रूप से कर्त्तव्य बुद्धि से विनय प्रतिपत्ति और वैयावृत्ति या सेवा के कार्य विभाव परिणति के कारण नहीं हैं, क्योंकि कर्त्तव्य बुद्धि से की गयी क्रियाएँ ममत्व या राग से नहीं, अपितु त्याग भावना से ही प्रतिफलित होती हैं। जैन परम्परा में पुण्य के रूप में दान, सेवावृत्ति और विनय प्रतिपत्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह त्याग भावना और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्भव है। दान ममत्व के विसर्जन में ही सम्भव होता है और ममत्व का विसर्जन या त्याग भाव स्वभाव परिणति है, विभाव परिणति नहीं। पुनः यदि त्याग भाव या ममत्व का विसर्जन स्वभाव परिणति है तो वह धर्म है और ऐसी स्थिति में पुण्य को भी धर्म ही मानना होगा। पुनः त्याग भाव अथवा मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया गया कर्म वस्तुतः निष्काम कर्म या अकर्म की कोटि में आता है, क्योंकि जो कर्म राग-द्वेष-ममत्व से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है ऐसा निष्काम कर्म धर्म का ही अंग है। बिना फल की आकांक्षा के कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने पर विभाव में परिणति नहीं होती है, क्योंकि विभाव दशा तभी सम्भव होती है जब 'पर' में 'स्व' का अर्थात् ममत्व बुद्धि का आरोपण होता है। ममत्व बुद्धि या रागात्मकता से अथवा फलाकांक्षा से किया गया कार्य ही बन्धन का कारण होता है और इसलिए उसकी गणना अशुभ कर्म या पाप कर्म में होती है, किन्तु ममत्व बुद्धि से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म अकर्म बन जाता है और निष्काम कर्म या अकर्म धर्म ही होता है अतः पुण्य धर्म है। वस्तुतः शुभ कर्म या पुण्य कर्म करते समय यदि व्यक्ति ममत्व बुद्धि या रागात्मकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को रखकर चलता है तो वह पुण्य को पाप में ही परिवर्तित कर देता है। उसे पापानुबन्धी पुण्य कहा है वही बन्धन रूप है। न केवल जैन परम्परा में अपितु गीता में भी कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये कर्म बन्धन के कारण नहीं माने गये हैं, अपितु उन्हें धर्म या मुक्ति का हेतु ही कहा गया है। कर्म में रागात्मकता या फलबुद्धि आनेपर कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाती है और कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाने पर वह कर्म विकर्म या पाप कर्म बन जाता है। अतः पुण्य आस्रव का निमित्त होते हुए भी धर्म ही है, क्योंकि उसमें कर्त्तव्य बुद्धि ही होती है। अतः पुण्य को धर्म की कोटि में ही स्थान देना होगा।

पुण्य धर्म नहीं है अथवा धर्म पुण्य नहीं है या पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न हैं—जो लोग ऐसी अवधारणा रखते हैं, वे वस्तुतः पुण्य का अर्थ ममत्व-बुद्धि या रागात्मकता से युक्त कर्म ही लेते हैं। किन्तु सभी शुभ कर्म या पुण्य कर्म रागात्मकता से ही सम्पन्न होते हैं, यह नहीं माना जा सकता है। अनेक शुभ कर्म या पुण्य कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं और जो कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं वे धर्म ही कहे जायेंगे क्योंकि कर्त्तव्य-पालन धर्म ही है। वस्तुतः किसी कर्म में ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा का जितना तत्त्व होता है, वही उसे अशुभ या पाप में परिवर्तित कर देता है। वे पुण्य कर्म जो कर्त्तव्य बुद्धि से या निष्काम भाव से सम्पन्न किये जाते हैं, वे धर्म ही हैं। वे न तो बन्धन के हेतु हैं और न मोक्ष की प्राप्ति में बाधक। ऐसे कर्मों के सम्बन्ध में धर्म और पुण्य को एकात्मक या अभिन्न मानना होगा। सेवा, विनय आदि के जिन कर्मों के पीछे ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा जुड़ी हुई होती है, वे शुद्ध रूप में पुण्य कर्म नहीं कहे जा सकते हैं। वे पापानुबन्धी पुण्य हैं और इसी प्रकार सेवादि के जिन कार्यों में फलाकांक्षा या फल बुद्धि है वे पुण्यानुबन्धी पाप हैं। क्योंकि भविष्य की फलाकांक्षा उन्हें पापरूप बना देती है।

जिन स्थितियों में पुण्य और पाप का मिश्रण है वहाँ रागात्मकता या फलाकांक्षा की उपस्थिति उस कर्म को पुण्य से पाप के रूप में वैसा ही परिवर्तित कर देती है जैसे दूध में डाला गया थोड़ा सा दही सम्पूर्ण दूध को दही में परिवर्तित कर देता है। जैन दर्शन में पाप के जो अठारह प्रकार माने गये हैं उनमें राग-द्वेष भी हैं। रागात्मकता पुण्य नहीं है, अतः वह धर्म भी नहीं है। जिस कर्म के पीछे रागात्मकता या फलाकांक्षा होगी वह पाप कर्म या अधर्म ही होगा। अतः प्रशस्त राग जैसे शब्द मात्र भ्रान्ति ही खड़ी करते हैं। कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा राग कभी भी प्रशस्त नहीं है, अतः वह धर्म नहीं है।

पुण्य क्या है? यदि इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर देना है तो हम कहेंगे-पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है। (पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्) पुण्य की इस व्युत्पत्तिपरक परिभाषा के आधार पर उसे किसी भी स्थिति में हेय और त्याज्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का मूल उद्देश्य तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की पवित्रता को ही प्राप्त करना है जो तत्त्व आत्मा की पवित्रता में साधक हो वह हेय या त्याज्य कैसे हो सकता है। पुण्य की दूसरी परिभाषा-परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम्' के अनुसार जिससे दूसरों को दुःख हो, पीड़ा पहुँचे वह पाप है और जो दूसरों का हित करे, उपकार करे वह पुण्य है। इस प्रकार परोपकार को ही धर्म कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

केवल उन्हीं पुण्यकर्मों को धर्म की कोटि में नहीं लिया जा सकता जो फलाकांक्षा या ममत्व बुद्धि से प्रेरित होते हैं। जो भी लोकमंगल के कार्य मात्र कर्तव्यबुद्धि से किये जाते हैं, जिनके पीछे किसी फलाकांक्षा या राग-द्वेष का तत्त्व नहीं होता, वे धर्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि उनमें जो ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बन्ध होता है वह वस्तुत: बन्ध नहीं है। निष्काम पुण्य प्रवृत्तियां शुभ भी होती हैं और शुद्ध भी। शुभ शुद्ध का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि पुण्य का कार्य आत्मविशुद्धि रूप प्रवृत्तियां हैं वे धर्म ही हैं।

शुभ एवं शुद्ध अविरोधी है

सामान्यतया यह समझा जाता है कि पुण्य प्रकृतियों और निवृत्तिमूलक धर्म-साधना में अथवा शुभ और शुद्ध में परस्पर विरोध है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। शुद्ध दशा की उपलब्धि के लिये शुभ की साधना आवश्यक होती है, जैसे कपड़े के मैल को हटाने के लिये साबुन आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति तभी सम्भव होती है जब शुभ योग में प्रवृत्ति होती है। अशुभ से बचने के लिये शुभ में अथवा पाप प्रवृत्तियों से बचने के लिये पुण्य प्रवृत्तियों में जुड़ना आवश्यक है। हमारी चित्तवृत्ति प्रारम्भिक अवस्था में निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। चित्त विशुद्धि के लिये सर्वप्रथम चित्त में लोक मंगल या लोक कल्याण की भावना को स्थान देना होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ना होता है और शुभ की ओर बढ़ना ही शुद्ध की ओर बढ़ना है। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि के लिये पहले साबुन आदि लगाना होता है, साबुन आदि द्रव्य वस्त्र की विशुद्धि में साधक ही होते हैं बाधक नहीं। उसी प्रकार निष्काम भाव से किये गये लोक मंगल के कार्य भी मुक्ति में साधक होते हैं बाधक नहीं। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि प्रक्रिया में भी वस्त्र से मैल को निकालने का ही प्रयत्न किया जाता है, साबुन तो मैल के निकालने के साथ ही स्वत: ही निकल जाता है उसी प्रकार चाहे पुण्य प्रवृत्तियों के निमित्त से आस्रव होता भी हो, किन्तु वह आस्रव आत्म-विशुद्धि का साधक ही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग की अवस्था में पुण्य के आस्रव से स्थिति बन्ध नहीं होता। तीर्थंकर अथवा केवली सदैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धोपयोग में ही रहते हैं, किन्तु उनको भी अपनी योग प्रवृत्ति द्वारा वेदनीय कर्म का आस्रव जो पुण्य प्रकृति का आस्रव है या- ईर्यापथिक आस्रव है, होता ही रहता है। इसका फलित यह है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं है, अपितु साधक ही है। जैन साधना का क्रम यही है कि व्यक्ति अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से शुद्ध की ओर बढ़े। अतः शुभोपयोग और शुद्धोपयोग परस्पर विरोधी नहीं हैं शुभोपयोग के सद्भाव में शुद्धोपयोग सम्भव है। वस्तुतः शुद्धोपयोग में बाधक वे ही तथाकथित शुभ प्रवृत्तियां होती हैं, जो फलाकांक्षा से या रागात्मकता से युक्त होती हैं। वस्तुतः वे तो फलाकांक्षा या रागात्मकता के कारण अशुभ ही होती हैं, किन्तु लोक व्यवहार में अथवा उपचार से उन्हें शुभ कहा जाता है। उदाहरण के रूप में कोई व्यक्ति अपने अहं की सन्तुष्टि के लिये अर्थात् मान-कषाय की पूर्ति के लिये दान देता है। बाहर से तो उसका यह कर्म शुभ दिखाई देता है, किन्तु वस्तुतः वह मान-कषाय का हेतु होने के कारण अशुभ ही है। शुभ कर्म दो प्रकार के होते हैं एक वे जो बाह्य प्रतीति के रूप में तो शुभ दिखाई देते हैं, किन्तु वस्तुतः शुभ होते नहीं हैं, मात्र व्यवहार में उन्हें शुभ कहा जाता है। दूसरे वे जो निष्काम भाव से मात्र दूसरों के प्रति अनुकम्पा या हित बुद्धि से किये जाते हैं वे वस्तुतः शुभ होते हैं। निष्काम भाव और कर्त्तव्य बुद्धि से लोक मंगल के लिये किये गये ऐसे कर्म शुभ भी हैं और शुद्ध भी। यहां शुभ और शुद्ध में विरोध नहीं है। कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनुकम्पा और शुद्धोपयोग से भी आश्रव माना है, किन्तु ऐसा आश्रव हेय नहीं है। तीर्थंकर वीतराग होते हैं। उन्हें शुद्धोपयोग दशा में भी योग की सत्ता बने रहने पर शुभास्रव तो होता ही है। अतः शुद्धोपयोग और शुभास्रव विरोधी नहीं है। शुद्धोपयोग आत्मा की अवस्था है जबकि शुभ योग, जो पुण्य बन्ध का कारण है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का परिणाम है। जब तक जीवन है, योग होंगे ही। यदि शुभ योग नहीं होंगे तो अशुभ योग होंगे, अतः अशुभ से निवृत्ति के लिये शुभ में प्रवृत्ति आवश्यक है अर्थात् पाप से निवृत्ति के लिये पुण्य रूप प्रवृत्ति आवश्यक है। पाप से अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति होने पर ही शुभ योग द्वारा शुद्धोपयोग की प्राप्ति सम्भव है। शुभ-योग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं, साधक है। शुभ योग और शुद्धोपयोग में साधन-साध्य भाव है, अतः उन्हें अविरोधी मानकर शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति के लिये साधनरूप शुभ योगों अर्थात् पुण्य कर्मों का अवलम्बन लेना चाहिये। पापरूपी बीमारी को हटाने के लिये पुण्य प्रवृत्ति औषधि रूप है जिससे आत्म-विशुद्धि रूप स्वास्थ्य या शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति होती है। शुद्धोपयोग में शुभोपयोग अर्थात् पुण्य कर्म बाधक नहीं साधक ही है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्मों से जो ऊपर उठने की बात कही जाती है उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मोक्ष रूपी साध्य की उपलब्धि होने पर व्यक्ति पुण्य-पाप दोनों का अतिक्रमण कर जाता है। जिस प्रकार नदी पार करने के लिये नौका की अपेक्षा होती है, किन्तु जैसे ही किनारा प्राप्त हो जाता है नौका भी छोड़ देना पड़ती है, किन्तु इससे नौका की मूल्यवत्ता या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्ता को कम नहीं आंकना चाहिये। पार होने के लिये उसकी आवश्यकता तो अपरिहार्य रूप से होती है। वैसे ही संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये पुण्य रूपी नौका अपेक्षित है, क्योंकि साधना की पूर्णता मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति में है और मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिये पुण्य कर्मों का सम्पादन आवश्यक है, अत: पुण्य कर्मों की उपादेयता निर्विवाद है।

पुण्य कर्मों को बन्धन रूप मानकर जो उनकी उपेक्षा जाती है वह बन्धन के स्वरूप की सही समझ नहीं होने के कारण है। पुण्य कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते हैं तो उनसे बन्धन नहीं होता है। यदि जैन धर्म की शास्त्रीय भाषा में कहें तो उनमें मात्र ईर्यापथिक बन्ध होता है, जो वस्तुत: बन्ध नहीं है। बन्धन जब भी होगा वह राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा की सत्ता होने पर ही होगा, उनका अभाव होने पर बन्धन नहीं होगा। जैन कर्म सिद्धान्त का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी कर्म का स्थिति बन्ध कषाय का कारण हैं। अत: वीतराग दशा की प्राप्ति पर शुभ कर्म या पुण्य कर्म अकर्म बन जाते हैं, वे बन्धन नहीं करते हैं। अत: त्याज्य 'कषाय' है न कि 'पुण्य' कर्म। आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति अर्थात् शुद्धोपयोग में उपस्थिति कषाय के अभाव में सम्भव है। अत: उसकी प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है, न कि पुण्य प्रवृत्ति का। वस्तुत: जब राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है तब वह शुभकर्म अकर्म बन जाता है। कषाय चाहे अधिक हो या अल्प, वह त्याज्य है, वह पापरूप ही है क्योंकि वह बन्धन का कारण ही है। कन्हैयालाल जी लोढ़ा का यह कथन शत प्रतिशत सही है कि मन्द कषाय पापरूप है, किन्तु कषाय की मन्दता पुण्य रूप है। कषाय में जितनी मन्दता होगी पुण्यप्रभार उतना ही अधिक होगा। पुण्य प्रवृत्ति जब भी होती हैं, वे कषाय की मन्दता में ही होती है अत: कषाय चाहे वह मन्द ही क्यों न हो, त्याज्य है- किन्तु कषाय की मन्दता उपादेय है, क्योंकि साधक कषाय को मन्द करते-करते अन्त में वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है और जब वह वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक रूप से नि:सृत होने वाली लोकमंगलकारी पुण्य प्रवृत्तियाँ बन्धन कारक नहीं होती हैं। वे त्याज्य नहीं, अपितु उपादेय ही होती हैं। बन्धन पुण्य प्रवृत्तियों से नहीं होता है, बन्धन तो व्यक्ति की निदान बुद्धि या फलाकांक्षा से होता है अथवा कषाय की उपस्थिति से होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार भी कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योंकि दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) की सत्ता है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक लोकमंगल की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जो द्वि-समय का ईर्यापथिक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है वस्तुत: वह बन्ध नहीं है। अत: पुण्य रूप सद्प्रवृत्तियाँ बन्ध रूप नहीं हैं अत: वे हेय नहीं उपादेय है। हेय तो कषाय हैं, जो पाप रूप हैं। अपनी कृति में पं० कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता को सप्रमाण सिद्ध किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उनके मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु निम्न हैं—

(१) पुण्यतत्त्व और पुण्यकर्म में अन्तर है। चाहे पुण्य कर्म बन्ध के निमित्त हों, किन्तु पुण्यतत्त्व बन्ध का निमित्त नहीं है। पुण्यकर्म क्रिया या योग रूप है। इससे उसका आस्रव एवं बन्ध सम्भव है, किन्तु पुण्यतत्त्व उपयोग रूप है, शुभ आत्म परिणाम रूप है जो कषाय की मन्दता का परिणाम है। अत: कषाय की मन्दता रूप पुण्य तत्त्व आत्म-विशुद्धि का निमित्त होने से उपादेय है।

(२) कषाय की मन्दता और मन्द कषाय में अन्तर है। जहाँ कषाय की मन्दता पुण्य रूप है वहाँ मन्द कषाय भी पाप रूप है। कषाय की मन्दता से शुभपरिणाम होते हैं और उससे पुण्य तत्त्व में अभिवृद्धि होती है, जबकि मन्द कषाय से भी अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और उनसे पाप तत्त्व की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कषाय की मन्दता पुण्य का हेतु है, जबकि मन्द कषाय पाप के हेतु हैं।

(३) कषाय की मन्दता से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्म-विशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि में साधक है। अत: पुण्य मोक्ष का साधक होने से उपादेय है, जबकि पाप मोक्ष में बाधक होने से हेय है।

(४) पुण्य पाप का प्रक्षालन करता है, अत: पुण्य सोने की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बन्धन में डालती है, आभूषण नहीं। बेड़ी बाध्यतावश धारण करनी पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अत: बेड़ी से हम इच्छानुसार मुक्त नहीं हो सकते हैं किन्तु आभूषण से इच्छानुसार मुक्त हो सकते हैं। अत: आभूषण रूप पुण्य के क्षय का कोई उपाय किसी साधना में निर्दिष्ट नहीं है।

(५) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों से बन्ध नहीं होता है। बन्ध तो तभी होता है, जब कर्त्ता में फलाकांक्षा, निदान कर्तृत्व या भौक्तृत्व रूप कषाय परिणाम हो। संक्षेप में शुभयोग के साथ रहा हुआ कषाय भाव ही उन कर्मों के स्थिति बन्ध का कारण होता है। शुभ योग कर्म बन्ध का कारण नहीं होता है।

(६) पुण्य स्वभाव है, स्वभाव का नाश नही होता है। पुन: जो स्वभाव होता है, वही धर्म है। पुण्य स्वभाव है अत: वह धर्म है। पुन: स्वभाव का त्याग सम्भव नहीं है, अत: 'पुण्य त्याज्य नही हैं। यही कारण है कि तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी लोककल्याण या प्राणियों के प्रति अनुकम्पा की दृष्टि से ही तीर्थ प्रवर्तन, धर्मोपदेश आदि प्रवृत्ति करते हैं। अत: पुण्य कभी भी त्याज्य नहीं है, वह सदैव ही उपादेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) पुण्य केवल आस्रव या बन्ध रूप नहीं है, अपितु संवर और निर्जरा रूप भी है, अतः पुण्य हेय नहीं उपादेय है।

(८) पुण्य-पाप कर्म का सम्बन्ध उनकी फलदान शक्ति-अनुभाग से है, स्थिति बन्ध से नहीं है।

(९) जैन दर्शन में वीतरागता की उपलब्धि के लिये रागादि पापों को ही त्याज्य कहा है, पुण्य को नहीं। अतः आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों के भेद-उपभेद का प्रतिपादन पाप को लक्ष्य में रखकर ही किया है, पुण्य को लेकर नहीं।

(१०) जैन कर्म-सिद्धान्त में जीव के स्वभाव व गुण का घातक घाती कर्मों को ही कहा है, अघाती कर्मों को नहीं। अघाती कर्मों की असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पापप्रकृतियों की सत्ता भी जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि किसी भी गुण की उपलब्धि में बाधक नहीं है। अतः पुण्य प्रकृतियों को जीव के किसी गुण की उपलब्धि में एवं वीतरागता में बाधक मानना सिद्धान्त विरुद्ध है।

(११) पुण्य-पाप दोनों विरोधी हैं। अतः जितना पाप घटता है उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। पुण्य के अनुभाग के घटने से पाप कर्मों के स्थिति और अनुभाग बन्ध नियम से बढ़ते हैं।

(१२) पुण्य के अनुभाग का किसी भी साधना से यहाँ तक कि केवल समुद्घात से भी क्षय नहीं होता है।

(१३) चारों अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के घटने से व क्षय से होता है।

(१४) पुण्य त्याज्य नहीं है, पुण्य के साथ रहा हुआ फलाकांक्षा निदान, भोक्तृत्वभाव कर्तृत्वभाव रूप कषाय व पाप त्याज्य है। जैसे गेंहू के साथ रहे हुए कंकर-मिट्टी एवं भूसा त्याज्य है, गेहूँ त्याज्य नहीं है।

(१५) पुण्य का अनुभाग बढ़कर चतुः स्थानिक हुए बिना सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता है। अतः पुण्य आत्म-विकास में, साधना में बाधक व हेय नहीं है।

यह तो हमने लोढ़ाजी की स्थापनाओं की संक्षिप्त झलक दी है। उन्होंने अपनी कृति के अन्त में ऐसे एक सौ इक्कीस तथ्य प्रस्तुत किये है, जो पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करते हैं। वस्तुतः उनकी ये स्थापनाएं किसी पक्ष-विशेष के खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नहीं, अपितु जैन कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों के गम्भीर आलोडन का परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वे मात्र विद्वान् नहीं हैं, अपितु साधक भी हैं। उनके द्वारा इस कृति की रचना का प्रयोजन उनके अन्तस् में प्रवाहमान करुणा की अजस्रधारा ही है। उनका प्रतिपाद्य मात्र यही है कि धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर सेवा और करुणा की सद्प्रवृत्तियों का समाज से विलोप न हो। क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरे प्राणियों का रक्षक और उनके सुख-दुःख का सहभागी बने।

सन्दर्भ :

१. **अभिधानराजेन्द्रकोश,** खण्ड ५, पृष्ठ ८७६.
२. **जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह,** भाग ३, पृष्ठ १८२.
३. **तत्त्वार्थसूत्र,** ६/४.
४. **योगशास्त्र,** ४/१०७.
५. **स्थानाङ्गटीका,** १.११-१२.
६. **जैनधर्म,** पृष्ठ ८४.
७. **समयसारनाटक,** उत्थानिका २८.
८. **भगवतीसूत्र,** ७/१०/१२१.
९. **स्थानाङ्गसूत्र,** ९.
१०. **भगवद्गीता,** १८.१७.
११. **धम्मपद,** २४९.
१२. **सूत्रकृताङ्ग,** २/६/२७-४२.
१३. **जैनधर्म,** पृष्ठ १६०.
१४. **दर्शन और चिन्तन,** खण्ड २, पृष्ठ २२६.
१५. **अनुयोगद्वारसूत्र,** १२९.
१६. **दशवैकालिकसूत्र,** १२९.
१७. **सूत्रकृताङ्ग,** २/२/४, पृष्ठ १०४.
१८. **दशवैकालिक,** ६/११.
१९. **कर्मग्रन्थ,** प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २५-२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org